-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-

: अध्याय चौथा :

: 'अलग-अलग रास्ते' - नाटकमें सामाजिक समस्याएँ :

-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-0-

अध्याय चौथा

अलग - अलग रास्ते - नाटकमें सामाजिक समस्याएँ

' समाज शब्दकी परिभाषा ':

' भारतीय संस्कृति कोश ' में समाज शब्द का अर्थ प्राचीन उत्सव दिया है । लेकिन हमें यदि सामाजिक समस्याएँ देखनी है, तो ' समाज ' (Society) शब्द की परिभाषा देखना भी आवश्यक है ।

' मॅकमिलन स्टुडंट ' (Macmilln Student) में 'Society' शब्दकी परिभाषा इसप्रकार की है ,

" The word society is used by sociologists in two different ways. When they speak of society, they usually have in mind a social unit such as a Tribe or a Nation - station which has its own political, economic, familial and other institutions relatively independent of those of neighbouring societies. This usage has been strongly influenced by the old notion of sovereignty in political theory. It can be misleading few societies' in the modern world whether stateless or state societies are truly independent of each-other, the ties of social interdependence spread across political boundaries in much closer and complex ways which sociologists cannot ignore.

" Society is also used in a more general sense to designate the object of sociological investigation, in this sense it is more or less synonymous with social structure "[1].

' समाज ' शब्द समाजतज्ञोंने दो मार्ग से प्रयुक्त किया है । वे जब समाज के संदर्भमें चर्चा करते हैं, तब वे मानते है - एक जमसमूह के समान वह समाज एक संस्था है । इसतरह की जमात का अस्तित्व राजकीय, अर्थिक, पारिवारिक और अन्य संस्था की अपेक्षा स्वतंत्र होता है । राजकीय क्षेत्र में होनेवाले सत्ताधीशों के मतोंका परिणाम इसपर बहुत पडा है । दर्जा प्राप्त समाज और दर्जा न मिलनेवाला समाज यदि एक दूसरे से स्वतंत्र है, फिर भी आज आधुनिक युग में इसी कारण लोगोंकी दिशाभूल हुई है । समाजज्ञोंने इसकी ओर ध्यान देना जरूरी है कि जो बंधन सामाजिक पर अवलंबित थे, वहीं आज एक सिलसिला•बनकर राजकीय स्तरपर खडे हैं ।

' समाज ' शब्द सामाजिक शास्त्रों का चिंतनपूर्वक किया गया शोध इसी अर्थ में है । इसका सामाजिक अर्थ से थोडा बहुत मेलजोल हुआ दिखाई देता है ।

- -

1 Macmillan Student.

" A society may be regarded as the most general term refering to the whole complex of the relations of man to his fellows "[1]

अर्थात ` व्यक्ति का अपने आसपास के सहवासियों के प्रति सम्बन्ध का साधारण अभिधान समाज है` ।

इसी तरह ` समाज ` शब्द का अर्थ हमें दिखाई देता है । परंतु समाज का क्या दायित्व है और कौन-कौनसी बातें हमें समान शब्द से अभिप्रेत है यह नाटक में देखना आवश्यक है ।

नाटक और सामाजिकता:

नाटक प्रकृत्या एक सामाजिक कला है । इसमें आयोजन से लेकर अवलोकन तक की समस्त क्रियाएँ समाज व्दारा ही सम्पादित होती है । रंगमंच अथवा प्रेक्षागृह का निर्माण, अभिनय का नियोजन, अवसरोचित वेश-भूषा का अनुकरण आदि के लिए समाज की अनिवार्यत: अपेक्षा होती है । अंतत: नाटक का प्रदर्शन समाज व्दारा ` सामाजिक के लिए ही तो किया जाता है । दर्शक तो समाज के अतिरिक्त और कुछ हो नहीं सकता । इस प्रकार नाटक का सर्वस्व सामाजिकता से जुडा हुआ है ।

---

1 Encyclopedia of Social Sciences, Vol.XIV.

नाटय संरचना और सामाजिक प्रेरणा:

नाटक निर्माण का मूल केंद्र जन-समाज ही है। समाज की प्रकृति देखकर और प्रेरित होकर नाटककार नाटक लिखता है। ` नाटयं लोकं स्वभावजम् ` के निर्देश से आचार्य भरत ने पुष्टि दी है - ` लोक-स्वभाव, नाटकोत्पत्ति का मूल प्रेरक तत्व है। प्रत्येक सफल नाटककारको सामाजिक गतिविधियों के प्रति पूर्ण सचेष्ट रहना पडता है। नाटककार के मानस पर समाज का जो स्वरूप अंकित होता है उसे ही वह पुन: सामाजिकों के समक्षा प्रदर्शित कर देता है। आचार्य धनंजयने नाटकीय प्रवृति को सामाजिक जीवनसे ही समुद्भूत माना है -

` देशभाषा क्रिया वेषलक्षाणा: स्य:प्रवृत्तय:।
लोका देवावगम्यैता यथोपित्यं प्रयोजयेत् ।।[१]

नाटककार नाटक लिखते समय कल्पना का आधार लेता है, परंतु वह कल्पना समाज - सापेक्षा होती है। समाज का विकास जिस रूपमें होगा, उसी के अनुरूप नाटककार नाटकों की रचना की प्रेरणा ग्रहण करता है। हिन्दी के समस्या नाटक इसके ज्वलन्त दृष्टान्त है।

आधुनिक कालमें नाटककारको नाटक लिखने की प्रेरणा किसी न किसी सामाजिक समस्यासे ही मिलती है। प्रत्येक युग के नाटकमें तत्कालीन परिस्थिती का वर्णन चित्रित होता है। उसे समाज से प्रेरणा मिलती है। समाज के हर्ष - विस्मय, उत्थान, पतन, समस्लाएँ, विषमताएँ, परिस्थितियाँ और समस्याएँ, नाटककार को नाटयलेखन की ओर आकर्षित करते है।

---

१ दशरूपकम - ६३ - आ.धनंजय।

लेखक अपने नाटको में समाज के विभिन्न स्वरूपों, परिस्थितियों, प्रतिक्रियाओं एवं अन्य संभावनाओं को ही विभिन्न दृश्यों में उपस्थित करने का प्रयास करता है। अत: नाटककार को सतर्कता के साथ समाज से निकट सम्पर्क स्थापित करना पडता है।

नाटक के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोण:

भारतमें नाटक को ` पंचमवेद `कहा गया है। उसके मूल में सामाजिक प्रेरणा काम करती है। चतुर्वेदोंका अध्ययन - श्रवण समाज के कुछ ही लोगोंतक सीमित हो जाने के कारण यह आवश्यक था कि वेद की प्रतिष्ठा के समकक्ष ही किसी ऐसी विधाका प्रचलन किया जाय जिसका रूप सर्वमान्य हो।[१]

नाटक इसी सामाजिक विचार धारा का प्रतिफलन है। इसप्रकार सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता ही नाट्य-रचना की प्रधान प्रेरणा बनी। इसके साथ ही नाटक को ` सभी जातियों के कर्मोंका प्रतिफल माना गया।`[२]

नाटकों के निर्माण में सामाजिक प्रेरणा का सदा प्रामुख्य रहा है। इसलिए सभी देशों के आरंभिक नाटक धार्मिक रहे है। इसका कारण धर्म आदिकालसे समाज का मुख्य अंग रहा है। प्रारंभिक समाज का मनुष्य सर्वाधिक रूपमें धर्मसे प्रभावित था, अत: नाटककारभी उसीसे प्रेरणा लेता था।

- -

१ नाटयशास्त्र, प्रथम अध्याय, १३ वा श्लोक।

२ सर्व शिल्पं प्रवर्तकम् - नाटयशास्त्र, प्र. अध्याय, १५ वा श्लोक।

संस्कृत नाटकों एवं लोक नाटकों की सामाजिकता ही हिन्दी नाट्य-साहित्य की मूल प्रेरणाशक्ति रही है। इसीलिए प्रारंभिक नाटक अधिकांशतः पौराणिक आख्यानों से सम्बन्धित है। बंगला और अँग्रेजी नाटकों के प्रभाव से हिन्दी नाट्य-साहित्य का दिशा परिवर्तन हुआ। हिन्दी नाटककारोंको राष्ट्रीयता की भावनासे एक नयी प्रेरणा प्राप्त हुयी।

नाट्य रचनामें सामाजिक प्रेरणा का एक महत्वपूर्ण आधार यह है कि प्रायः संसार के सभी देशोंके अधिकांश नाटकों में श्रृंगार और वीर ही अंगिरस के रूपमें आये थे। कारण सामान्य दर्शकों का साधारणीकरण उसके साथ ही अधिक होता है। इसलिए दर्शक ऐसे नाटकोंसे आकृष्ट होते हैं और नाटककार ऐसे ही अधिकतर नाटक लिखते है। इसप्रकार नाट्य-संरचनामें यह भी एक प्रधान सामाजिक कारण हो जाता है।

<u>नाटक और सामाजिक स्थिति:</u>

नाटक साहित्य अपने समाज का प्रतिरूप होता है। सामाजिक के समक्ष समाज का प्रस्तुतीकरण ही नाटक का मूलोद्देश्य होता है। सामान्य लोग समाज की जिन सूक्ष्म स्थितियोंका अवलोकन नहीं कर पाते, नाटक व्दारा उनका भी प्रत्यक्षीकरण हो जाता है।

' नाटक मूलतः सामाजिक स्थितियोंकी अनुकृति है। ' [१]

---

१ नाट्यशास्त्र १ - १०८ - १०९ ।

सामाजिक, आदर्श, नियम, जीवन-मूल्य, प्रथा, रीति, संस्कृति, सम्यता आदि के अनुरूपही नाटक का निर्माण हुआ करता है। भारत के सभी प्राचीन नाटकों में प्राय: अनिवार्य रूपसे नान्दी आदि का विधान है। इससे तत्कालीन सामाजिक स्थितिका बोध हो जाता है। उस समय कार्यारंभ के साथ ही कार्यान्त में भी सबके कल्याणार्थ शुभकामना व्यक्त की जाती थी। नाटक की समाप्तिपर 'भरत-वाक्य' का विधान उसी सामाजिक प्रचलन का द्योतक है।

सामाजिक स्थिती नाटकके सभी तत्वोंको प्रभावित करती है। भारत का प्राचीन समाज धर्मप्रधान था, अत: नाट्यशास्त्रोंमें यह विधान उपस्थित किया गया कि नाटककी कथावस्तु धार्मिक तथा प्रख्यात होनी चाहिए। इसके पीछे यही उद्देश्य रहता था कि सामाजिक जीवन पूर्णत: धार्मिक बना रहे, जनजीवन मंगलमय हो। कथावस्तु का चयन नाटककार सामाजिक आवश्यकताओं को ध्यानमें रखकर करता है। कथावस्तुकी भांति ही नाटकों के पात्रभी सामाजिक स्थिति के अनुसार ही अपना स्थान ग्रहण करते हैं। उस समय का समाज राजा को ही अवतारी पुरूष, अपना अधिपति अथवा प्रतिनिधि मानता था। अत: नाटककार भी ऐसे ही लागोंको नायक के पदपर प्रतिष्ठित करता था। धर्मात्मा, धैर्यवान और पराक्रमी पुरूषोंका सामाजिक जीवनपर अच्छा प्रभाव पडता है।

नाटकों के भाषासे ही सामाजिक स्थिति प्रकट होती है। उन्नत एवं शिक्षित समाजमें प्रचलित नाटकों की भाषा परिमार्जित होती है। उन नाटकों में एक भी वाक्य अथवा शब्द ऐसा नहीं होता

जो सांस्कृतिक मर्यादा या सामाजिक महत्व को आघात पहुंचा सके। प्रत्येक संवाद में शिष्टता का ध्यान रखना अनिवार्य हो जाता है।

नाटकों मे व्यंजित रसदशा भी सामाजिक जीवन के स्तर को ही व्यक्त करती है।

नाटककारका सामाजिक दायित्व:

नाटक सामाजिक जीवन का प्रत्यक्षीकरण है, अत: नाटककारको समाज की समस्त गतिविधियों के प्रति सचेष्ट रहना पडता है। विभिन्न सामाजिक सम्बन्धोंसे ज्ञात रहना, समाज के क्रियाकलाप का सतर्कतासे निरीक्षण करना, भूत और वर्तमानकी घटनाओंसे अनुभव प्राप्त करना आदि नाटककार के लिए परम आवश्यक होता है। इन दायित्वोंके प्रति वह सतर्क रहता है इसलिए प्रभावोत्पादक नाटक लिखना उसके लिए संभव होता है। नाटकीय उत्कर्ष के लिए व्दंव्दात्मक चित्रण अनिवार्य है और इसके लिए संघर्षपूर्ण परिस्थितयोंसे परिचित रहना नाटककारका दायित्व हो जाता है।

इसी दायित्व से प्रेरित होकर पं.लक्ष्मीनारायण मिश्रने लिखा है -

" वर्तमान के व्दंव्द को चित्रित करने के लिए हमें हारकर सामाजिक पात्रोंकी कल्पना करनी ही पडेगी। किसी भी सफल नाटक में युगीन विचारधाराओंकी उपेक्षा नहीं की

जा सकती । वस्तुत: प्रत्येक महत्वपूर्ण नाटककार अपने नाटकव्दारा जीवन के किसी न किसी मूल्य को अपनी अन्तदृष्टिको अपनी सामाजिक, दार्शनिक,नैतिक मानवीय उपलब्धि को ही तो अभिव्यक्त करता है । "[१]

वैसे प्रत्येक साहित्यकारका सामाजिक दायित्व होता है, पर दृष्य साहित्य लिखने के कारण नाटककार अन्योंकी अपेक्षा अधिक उत्तरदायी होता है । जन समाजमें सामयिक स्थितियोंके प्रति चेतना उत्पन्न करना नाटक कारका प्रमुख उत्तरदायित्व है । राष्ट्र और समाजमें व्याप्त निर्जीवता एवं यांत्रिकता से अलग हटकर लोगों को उद्बुध्द करना नाटककारका धर्म है । अपना उत्तरदायित्व निभाने के लिए उसे समाज की समग्रता को सभी दृष्टियों से सामाजिकोंके सम्मुख प्रस्तुत करना पडता है ।

बाह्य दबाओं, प्रलोभनों और सस्ती लोकप्रियतासे पृथक रहना भी नाटककारों का प्रमुख दायित्व हो जाते है । इनकी उपेक्षासे नाटकव्दारा समाज का उचित दिशा - निर्देशन नहीं हो सकता ।

सामाजिक परिवर्तन के कारण नाटककार का दायित्व और बढ जाता है । परिवर्तित समाजमें नई पीढी के लोग प्राय: प्राचीन विचारधाराओंके प्रति किंचित भी रूचि नहीं लेते, बल्कि कभी कभी उनके विरोधमें उग्र प्रदर्शन करते है ।

---

१ रंगदर्शन. नेमिचंद जैन - पृष्ठ २२ ।

आधुनिक कालमें वैज्ञानिक अविष्कारोंके चलते सामाजिक वातावरण द्रुतगतिसे बदलता जा रहा है । परम्परागत धारणाओं, प्रथाओं, मर्यादाओं व्यवस्थाओं, आदर्शोंसे लोगोंकी आस्था समाप्त होने लगी है । अतीत व्यवस्था वर्तमान जीवनको जीनेमें सहायत्ता नहीं कर पा रही है । इसके साथही नये सिध्दान्तों और मूल्योंकी प्रतिष्ठा भी हो रही है । अत: समग्र वातावरण में अराजकता ही व्याप्त होती जा रही है ।

इस प्रकार आज समाज एक विचित्र तनाव की स्थितिमें पड़ा हुआ है । इनके बीचसे एक प्रशस्त पथ के निर्देशन की आवश्यकता है । अन्य विचारकों और रचनाकारोंकी अपेक्षा नाटककारसे इसकी अधिक आशा करना स्वाभाविक है, क्यों कि उसकी कला समाजसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखती है ।

सामाजिक मनोवृत्ति और नाटक:

नाट्यरचना एवंत उसके प्रदर्शनमें समकालीन सामाजिक मनोवृत्तियों का प्रमुख स्थान रहता है । अपने प्रेक्षाकोंकी अभिरूचि की उपेक्षा कर नाटककार पूर्ण सफल नहीं हो सकता ऐसा करने से वह विच्छिन्न हो जायेगा । उसे समाज व्यवस्था, रीति-नीति, प्रथा, मान्यता, संस्कृति आदि का विचार करना ही होगा ।

नाटकीय क्रियाकलाप का मूल प्रयोजन है - ` समाज से बनना और समाज को बनाना । नाटककार को सुरूचि सम्पन्न बनाने का प्रयत्न करना होता है । उसे तटस्थ होकर रहना है, आसक्त नहीं होना चाहिए ।

यदि समाजमें लागोंकी मनोवृत्ति गन्दी हो गई हो, तो नाटककारने उचित दिशा दिखाने का कार्य करना चाहिए न कि दर्शकोंको और भटकावमें ले जाना चाहिए। सामान्य लागोंकी रुचि का ध्यान रखते हुए शाश्वत संस्कारोंका निर्माण नाटककारका मुख्य प्रयोजन होना चाहिए। समाज में जितने प्रकार के भी दुर्गुण और दुराचार फैले हुए हों उन सबके मूलोच्छेदन का प्रयास नाटकों में होना चाहिए।

मध्ययुगीन वैष्णवधर्म आन्दोलन के समय जनता गेय पदोंकी ओर अधिक आकर्षित होती थी। अतएव उस समय के नाटकोंमें समाज की मनोवृत्ति को ध्यान में रखकर ही गीत और संगीत की प्रमुखता दिखाई देती है। इसी प्रकार पारसी रंगमंचके अधिकांश नाटक तदयुगीन जनता की छिछली मनोवृत्तियों के ही सूचक है। सुधारकालमें इसलिए भारतेन्दुने पारसी रंगमंचका विरोध किया।

नाट्य साहित्य समकालीन सामाजिक प्रवृत्ति से अलग होकर प्रचलित भी नहीं हो सकता। यदि अन्धविश्वास, रूढ़ि, प्रथा आदि के प्रति सामाजिकों की आस्था रहेगी तो नाटककार को उन सबके प्रदर्शन के लिए अवसरोंका निर्माण करना ही होगा। आज के वैज्ञानिक युग में भूत प्रेतोंके प्रति लोगोंका विश्वास कम होता जा रहा है, अत: इनका प्रयोग भी नाटकोंमें नहीं हो रहा है।

अब सामाजिकों का मानसशास्त्र देखना जरूरी है।

सामाजिक मानसशास्त्र:

मानव समाजप्रिय प्राणी है। वह समाजमें जनम लेता है, बडा होता है और उसी समाजमें व्यवहार करता है। समाजने ही उसका पाल-पोस होता है। मानव समाजसे अलग, अकेला और एकाकी रह हीं नहीं सकता। इतना ही नहीं तो समाज के बिना मानव यह कल्पना करना भी अकल्पित है। ॲरिस्टॉटल का कहना है -

'समाज के बिना मानव यदि वह ईश्वर तो होगा
या हिंस्त्र पशु।'

समूह का सदस्य इस रिश्तेसे मानव अन्यत्र वर्तन व्यवहार करता है। जनमसे ही मानव सामाजिक नहीं होता। जनम के बाद उसका दूसरे लोगोंसे सम्बन्ध और सम्पर्क आता है और इसीसे उसकी समाजशीलता विकसित होती है।

कोई भी हो 'समाज' एक 'व्यवस्था' होती है। इसमें प्रत्येक व्यक्तिका स्थान और उसीके अनुसार उसकी भूमिका भी निश्चित होती है। और इसी भूमिका से उसका सामाजिक बर्ताव रहता है। हर तरह का दर्जा और भूमिका से समाज रचना जनम लेती है। इसमें विभिन्न समूह होते हैं। जैसे:- कुटुंब, शाळा, मित्रसमूह, संस्था, संघटना इ.। प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न समूहोंकी सदस्य होती है। प्रत्येक में उसका दर्जा अलग रहता है। उसी के अनुसार उसे भूमिका निभानी पडती है। जैसे महाविद्यालयमें यदि सभी प्राध्यापकोंका दर्जा एक होता है फिर भी उनमें विद्वान, वरिष्ठ-कनिष्ठ अनुभव, विभाग प्रमुख आदि कारणोंसे विभिन्नता रहती ही है।

प्रत्येक समाज व्यवस्थामें अनेक दृष्टिसे विभाजन होता है। लैंगिक दृष्टिसे स्त्री-पुरूष, लड़का-लड़की जैसे नैसर्गिक पृथक्करण होता है। उम्र के कारण ही बच्चा, युवक और बूढ़ा ऐसा वर्गीकरण होता है। व्यापार-उद्योग और संस्था के अनुसार ही वर्ग-समूह अस्तित्व में आते है।

हर आदमी को समाज में अपना दर्जा होता है। उसके दो प्रकार - (१) अर्पित दर्जा (Ascribed position) और (२) अर्जित दर्जा (Achieved Position) । स्त्री-पुरूष, लड़का-लड़की, युवा, बुढ्ढा आदि को अर्पित दर्जा कहा जाता है। यह दर्जा प्राप्त होने के लिए व्यक्ति को कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ता। आर्थिक और सामाजिक दर्जा के कारण व्यक्तिको जो स्थान प्राप्त होता है - जैसे गरीब, अमीर, मागासवर्गीय। वह व्यक्ति के प्रयत्न का फल नहीं होता। इसके विपरीत अर्जित दर्जा व्यक्ति अपने स्वप्रयत्न से प्राप्त करती है। जैसे - पति-पत्नी, राजकीय पक्ष का सदस्यत्व, स्वीकार किया हुआ व्यवसाय के अनुसार स्थान इ.दर्जा अर्जित होता है। विवाह, शिक्षण, अभिरूचि इ.कारण घटकोंसे अर्जित स्थान व्यक्ति पा सकता है। डॉक्टर, प्राध्यापक, वकील, सैनिक, बनिया, नगरपालिका अथवा जिल्हा परिषद का सदस्य आदि स्थान स्वप्रयत्न से प्राप्त होते हैं। इसलिए वह अर्जित दर्जा होता है।

सामाजिक भूमिका:

'व्यक्ति अपने स्थानके अनुरूप जो बर्ताव करता है, उसे ही भूमिका कहते है' - यह परिभाषा राल्फ लिन्टन ने की है।

माँ को अपने बेटे के साथ प्यार से बर्ताव करना चाहिए, विद्यार्थीको पढाई में ध्यान देना चाहिए, शिक्षक को विद्यार्थियोंका चारित्र्य संवर्धन करना चाहिए। माता, विद्यार्थी, शिक्षक यह दर्जा है और उसके अनुसार व्यक्ति का आचरण होता है उसी को सामाजिक भूमिका कहते है।

व्यक्ति का समाज में कौनसा भी स्थान हो चाहे वह अर्पित हो या अर्जित हो, उसीसे भूमिका संलग्न होती है। किम्बाल यंग का कहना है -

' व्यक्ति जो करती है, उसे भूमिका कहा जाता है '।

संसार एक रंगभूमि है, शेक्सपिअरने कहा है। नायक-नायिकायें, राजा-रानी, मुख्य प्रधान, भास्कर आदि अनेक विध भूमिकाएँ रंगमंच पर खेली जाती है। व्यक्ति-व्यक्तिमें होनेवाले क्रिया-कलाप के अभ्यास करने के लिए उनका दर्जा मालूम होना आवश्यक है।

समाज में होनेवाली विभिन्न भूमिका याने व्यक्ति स्वातंत्र्यपर बाधा पडती है। व्यक्ति का कर्तव्य, व्यक्तित्व गुण, आशा-आकांक्षा, स्वभाव-विशेष इ. कारणों को भूमिकासे बंधन होता है। परंतु व्यक्ति स्वातंत्र्य के उपर बन्धन आवश्यक ही है। यदि प्रत्येक व्यक्ति भूमिका के अनुसार बर्ताव नहीं करेगी, तो स्वैराचार हो जायेगा और समाज व्यवस्था का अस्तित्व धोखेमें आयेगा और वह टिक भी नहीं सकेगी।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया:

सामाजिक परिवर्तनका चक्र निरंतर चलता रहता है। समाजशास्त्रियोंने इस परिवर्तनके सम्बन्ध में दो प्रकार के मत व्यक्त किये हैं। प्रथम विचार धारा के अनुसार, सामाजिक परिवर्तनकी प्रक्रिया ` दिन और रात ` के समान है अथवा जिसप्रकार ऋतुपरिवर्तन चक्र चलता रहता है, उसी प्रकार सामाजिक परिवर्तन चक्र गतिमान है। समाज बनता है, बिगड़ता है और पुन: निर्माण होता है। सभ्यताओंके उदय, अन्त एवं पुन: उदय होने के सत्य को इतिहास दुहराता है। इस प्रक्रिया को चक्रिक प्रक्रिया की संज्ञा दी गयी है।

इसी सन्दर्भमें दूसरी मान्यता है कि सामाजिक परिवर्तन एक चक्र स्वरूप नहीं वरन् एक दिशा-विशेषकी और बढ़ता है - विकास की ओर बढ़ता है। यहाँ विकास याने उन्नति नहीं, बल्कि स्थानसे बढ़ना। यह बढ़ना आगे ही नहीं, पीछे की ओर भी हो सकता है। इसप्रकार हमारा समाज अनवरत विकास की ओर बढ़ता है किन्तु यह कहना कठिन है कि उसने सदा उन्नति ही की है।

लेकिन एक बात सत्य माननी पड़ेगी। संसार जहाँसे चला था, वहाँ पर आज नहीं है। क्यों कि सामाजिक परिवर्तन प्रक्रिया अनवरत गतिमान है। यह परिवर्तन का तत्व विश्व-व्यापी है और मनुष्य इस परिवर्तन के प्रति आस्थावान है।

' मानवीय मूल्य के प्रति प्रत्येक शिविर और प्रत्येक धारामें उभरकर आनेवाली यह आस्था हमारी उस प्राथमिक स्थापना को सिध्द करती है कि इस संकटमें भी मनुष्य व्दारा नहीं है, बल्कि उसने उसका प्रत्युत्तर दिया है और दिनोंदिन उसने और भी सशक्त स्वरोंमें घोषित किया है कि वह प्रगति का सूत्र है और इतिहास का निर्माता है। साम्प्रदायिक अनुशासन जहाँ भी उसकी प्रगति चेतनामें आडे आय है, उनका उसने साहसपूर्वक अतिक्रमण किया है। उसकी यह यात्रा सरल नहीं रही है, किन्तु ' सेसिल डेल्युईस ' के शब्दोंमे उसने ' निराशावाद मै से जिन्दगी की चिन्गारी ढूँढी है और इस्पात में से गीत जगाये है।'[१]

' अलग अलग रास्ते ' में कौन-कौन सी सामाजिक समस्याओंका अंतर्भाव उपेन्द्रनाथ अश्क ने किया है यह हमें देखना है।

सामाजिक समस्याएँ :

१) दहेज प्रथा :

आज समाजमें दहेज समस्या एक ज्वलन्त समस्या बन गई है। दहेज प्रथा समाज का एक ऐसा फोडा है, जो रिस-रिस कर सम्पूर्ण समाजको विषाक्त बना रहा है। प्राचीन कालसे ही दहेज प्रथा भारतीय समाजकी धमनियोंसे रक्त बनकर प्रवाहित हो रही है। किन्तु आधुनिक युग तक आते आते इसका रूप विकृत हो गया है।

---

१ मानव मूल्य और साहित्य - डॉ.धर्मवीर भारती, प्र सं १९६० पृष्ठ १३४-३५।

प्राचीन मान्यता के अनुसार दहेज को ' स्त्री-धन ' के रूपमें प्रयुक्त किया गया है। यह धन विवाह के समय पिता अपनी खुशीसे पुत्रीको ' भविष्य निधि ' के रूपमें देता था, क्यों कि परिवार पर आयी हुई आर्थिक विपत्तिमें इसका उपयोग किया जा सके। वर्तमान युग में एक पिता अपनी पुत्री का विवाह तब करता है, जब वह लडकेवालोंकी सभी मांगे पूरी कर सके। अर्थात् आधुनिक युग का दहेज लडकी के पिता के इच्छानुसार नहीं, लडके के पिता की सुविधा एवं मांगपर निर्भर करता है। इसी कारण आज कल कई योग्य कन्याओं को अयोग्य पति से विवाह करना पडता है और कई कन्याएँ योग्य पति की तलाश करतेकरते ही बूढी हो जाती है।

आधुनिक समाज की युवा पीढी में दहेज प्रथा के विकृत रूप के प्रति विद्रोह के स्वर व्याप्त है जिनका उल्लेख आधुनिक नाटकों में मिलता है। उपेन्द्रनाथ अश्क ने ' अलग अलग रास्ते ' में दहेज की समस्या को प्रस्तुत किया है। इस नाटक की रानी दहेज प्रथा की घोर विरोधी है। वह दहेज के लोभी पति के घर जानेसे साफ इन्कार कर देती है। वह अपने पति को फटकारती हुई कहती है -

> आप जाईए - - - पिताजी से मकान लीजिए, मोटर लीजिए। मुझे उस मकान-मोटरकी कोई आवश्यकता नहीं।[१]

---

१ अलग अलग रास्ते - उपेन्द्रनाथ अश्क - पृष्ठ ११०।

रानी के ससुरवाले उसको घरसे निकाल देते है, क्यों कि उनको दहेज में मोटर तथा मकान नहीं दिया था। ताराचंद रानी को घरसे निकालने के वास्तविक कारण पर प्रकाश डालता हुआ शिवरामसे कहता है -

"जब वह पिछली बार आयी थी, उसे इतना तंग किया तब मैंने उसे समझा-बुझाकर वापस भेज दिया। समझाया कि बेटी, पति जिस हालमें रखें, उसमें रहना चाहिए और ससुराल के दोष गिनने के बदले गुण ढूँढने चाहिए।"[१]

परंतु "जब ही रानी घर गयी, उसे सुनना पडा कि वह एक कंजूस बाप की बेटी है। उसकी सासनें, उसकी ससुरने, उसकी जेठानियों और ननदोंने उसे दहेज की कमी के ताने दिये। त्रिलोकने कई बार उन लडकियोंकी चर्चा की, जिनके पिता उसे कहीं अधिक दहेज देने को तैयार थे, या जो अधिक पढी-लिखी, सभ्य-संस्कृत, सुन्दर-सुशील या विनम्र थी"[२]

इसी दहेज प्रथा की बढती हुई प्रवृत्तिने समाजमें कई नवीन समस्याओंको जन्म दिया है। निर्धन कन्याएँ इसी कारण अविवाहित रह जाती है और यौन-भूख मिटाने के लिए वेश्यावृत्ति का सहारा उन्हें लेना पडता है। पर्याप्त दहेज के अभाव में पति-पत्नीका दाम्पत्य जीवन तनावपूर्ण बना रहता है। जिससे 'तलाक-व्यवस्था' जोर पकडती जा

---

१ अलग अलग रास्ते, उ.ना.अश्क, पृष्ठ ६७।

२ अलग अलग रास्ते, उ.ना.अश्क, पृष्ठ ६६-६७।

रही है। परिणामत: आधुनिक भारतीय समाजमें भयंकर विघटन की स्थिति उत्पन्न हो गयी है। अत: दहेज प्रथा विरोधी आन्दोलन को और अधिक तीव्र करनेकी आवश्यकता का अनुभव होने लगा है।

वेश्या समस्या:

दहेज के अभावमें यदि विवाह न हो, तो शायद लड़की वेश्या बननेका मार्गक्रमण करती है। परंतु 'अलग अलग रास्ते' में प्रोफेसर मदन का विवाह राज से होता है और वह सुदर्शनासे प्रेम करता है। मदन अपनी पहली पत्नी राज के रहते हुए भी सुदर्शना के साथ घूमता-फिरता है। इसी बात का क्रोध राज के पिता ताराचंद को आता है और वह पूरनसे कहता है कि -

> 'वेश्या नहीं तो वह और क्या है ? जो लड़की एक विवाहित पुरूष के साथ नंगे सिर, नंगे मुँह, बारीक कपडे पहने, होंठ-मुँह रंगे, आवारा घुमती है, जिसे न अपना ध्यान है, न भले घराने की दूसरी लड़की का, वह वेश्या नहीं तो और क्या है ? मैं कहता हूँ, वेश्याओंमें भी इतनी लाज-शरम होती होगी।'[१]

आगे वह कहता है सक्रोध और व्यंग्य से -

---

१ अलग अलग रास्ते, उ.ना.अश्क, पृष्ठ ११५।

'क्या यह किसी घसियारे की लडकी है ? ....
किसी लुहार-सुनार की लड्की है? .... रखनेके लिए
तैयार है। .... जब तक वह वेश्या उस घरमें है,
ताराचंद की लड्की कभी वहाँ नहीं जा सकती।'[१]

फिर भी मदन सुदर्शनासे शादी कर लेता है। अश्कजीने दुष्चरित्र लड्की को भी वेश्या के समान माना है और ऐसी लडकियोंकी भर्त्सना की है।

रस्मों-रिवाजोंकी जडता का विरोध (क्रान्तिकारी):

रानी विवाहित होकर भी समाज के मूल्यों के प्रति निशंक एवं दृढ है। विवाह के प्रति अपनी अनास्था प्रकट करती हुई वह विवाह को इन शब्दोंमें परिभाषित करती है -

'संसार भर में ब्याह स्त्री के लिए सुख-शान्ति
का सन्देश लाता है, पर हमारी दासता के बन्धन
इससे और भी कठोर हो जाते है।'[२]

विवाह के विषय में बुध्दिवादी नारी की इस नई परिभाषा को समाज में आज व्यापक स्वीकृति मिल रही है। आज की शिक्षित आधुनिका विवाह को रानी की तरह ही एक बन्धन और गुलामी-भरा

---

१ अलग अलग रास्ते, उ.ना.अश्क, पृष्ठ ११७।

२ अलग अलग रास्ते, उ.ना.अश्क, पृष्ठ ७५।

जीवन समझाती है। पुरूषोंकी विवाह-सम्बन्धी धारणापर रानी का भाई पूरन जबरदस्त प्रहर करता है। समाज के नियामक पुरूष के प्रति उसकी अनास्था बडी कटु होकर व्यक्त हुई है। वह कहता है -

> ' पुरूष के भाग्य के गुण तो ऋषियोंने भी गाये है,
> उसकी थाह तो देवता भी नहीं पाते। वह चाहे
> तो तीन-तीन शादियाँ करें और तीनों को कष्ट
> दे दे कर मार डाले, चाहे तो बिनाकारण पत्नी
> को छोड दे या न छोडे, रखे या न रखे, चाहे तो बुड्ढा
> खुसट होते हुए भी एक निरीह किशोरी को अपने
> जीवन से बाँधले, अपंग और अधमरा होते हुए भी सुन्दर
> और स्वस्थ लडकी ब्याह लाये।' [१]

' अलग अलग रास्ते ' का मदन वैवाहिक रूढियों और परम्पराओं को ठोकर मारनेवाले उन मध्यवर्गीय युवकों का प्रतिनिधी है, जो विवाह को हृदय का सौदा, पारस्परिक प्रेम-बन्धन समझाता है, पण्डितों तथा पुरोहितों व्दारा बलात् ले मढ़ देने को बन्धन नहीं मानता। इसीलिए वह राज से स्पष्ट कहता है -

> ' बारातियों, पुरोहितोंने, हमारे माता-पिताने,
> यज्ञ की अग्निने हमें एक दूसरे के शारीर सौंप दिए,
> है, ह्दय तो नहीं।' [२]

- -

१ अलग अलग रास्ते, उ.ना.अश्क, पृष्ठ ९१।

२ अलग अलग रास्ते, उ.ना.अश्क, पृष्ठ ८१।

युध्दस्तर पर विरोध:

'अलग अलग रास्ते' की रानी दहेज प्रथा जैसे कुप्रथा का न केवल घोर विरोध करती है बल्कि अपने लालची पति को धता-बताकर उसके पास जाने से इन्कार कर देती है। आज के कतिपय परिवारों एवं लड़कोंके पिताओं ने पुत्र-विवाह को एक व्यापार का रूप दे दिया है। रानी इस असंगतिके प्रति अपना सशास्त आक्रोश व्यक्त करते हुए पति को फटकार लगाती है -

> 'आप जाइये, पिताजीसे मकान, लीजिए, मोटर लीजिए। मुझे उस मकान, मोटर की जरूरत नहीं।'[१]

गर्हित पारिवारिक जीवन:

अश्क रचित 'अलग अलग रास्ते' की रानीका असंगतिपूर्ण दाम्पत्य जीवन दहेज समस्या की बलिवेदीका प्रासाद है। इच्छानुसार दहेज न मिलनेपर ससुरालवाले रानीपर अमानुष अत्याचार करते है। ऐसे गर्हित पारिवारिक जीवनसे उब्कर रानी अपने पिता के घरसे वापिस पति के घर जाने को किसी कीमतपर तैयार नहीं है। अपनी मान-मर्यादा की रक्षा के लिए जब पिता वर पक्ष की इच्छा पूर्ण करने का प्रयत्न करते हैं तब रानी कहती है -

---

१ अलग अलग रास्ते, उ.ना.अश्क, पृष्ठ ११० ।

" आप यह समझाते है कि ये मकान मेरे नाम करके मुझपर कोई उपकार कर रहे हैं ? ये मेरे गलेमें सदा के लिए दासता की बेडी डाल रहे है । मुझे ऐसे व्यक्ति के साथ रहने को विवश कर रहे है , जिसके लिए मेरे मनमें लेशमात्र भी सम्मान नहीं । ये मुझे फिर उस नरकमें ढकेलना चाहते है, जहाँ घुट-घुटकर मैं अधमरी हो गई हूँ । ये चाहते है, इनके नामपर, इनके कुलके नामपर कोई कलंक न आये, चाहे इनकी बेटी घुट-घुट कर मर जाय । "[१]

रानी के बिल्कुल विरोध में उसकी छोटी बहन राज है । समाज के परम्परागत आदर्शोंके अनुरूप वह पतिव्दारा अन्य रमणीसे प्रेमालाप करने पर भी विद्रोह नहीं करती । राज के पतिका कहना है -

" तुम्हारे अधिकार की नींव एक सामाजिक प्रथापर टिकी है । हृदयसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं । "[२]

<u>बौध्दिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे नाटकके पात्रोंकी मीमांसा:</u>

आज का युग समानाधिकार का है, जिसमें लडकियों को लडकोंके समान ही शिक्षा दी जानी चाहिए । जिससे विवाहोपरान्त उसे अपने दाम्पत्य जीवनमें सामंजस्य स्थापित करनेमें किसी तरहकी दिक्कत पेश न आए । अनपढ राज और प्रोफेसर मदन के विफल दाम्पत्य-जीवन की रोशनीमें नाटककार इसी ओर इंगित करता है ।

---

१ अलग-अलग रास्ते, उ.ना.अश्क, पृष्ठ १२७-२८ ।

२ अलग-अलग रास्ते, उ.ना.अश्क, पृष्ठ ८१ ।

भारतीय नारी की इस दयनीय स्थिती का चित्रण करते हुए रानी और राज का भाई पूरन कहता है -

"हमारे समाज में नारीकी स्थिती उस निरीह गाय के समान है, जिसको उससे पूछे बिना, उसकी इच्छा जाने बिना, कसाई के हाथों सौंप दिया जाए। वह कसाई उसे एक झटकेमें मार दे या तिल-तिलकर उसकी हत्या करे, भूखा मारे, या चारे के भरे थाल पर बांध दे।"[१]

"दाम्पत्य-जीवन की इस विसंगतिपूर्ण ट्रेजेडी के प्रति रानी की प्रतिक्रिया समीचीन है अथवा राज की इसका कोई निर्णय तो नहीं किया गया है, तथापि रानी के जीवन व्यक्तित्व के प्रति आधुनिक पाठक एवं दर्शक की सद्भावना अधिक उद्बुध्द होती है, राज के मृत व्यक्तित्व के प्रति उसे दया ही आती है।"[२]

अत: मध्यवर्गीय शिक्षित परिवारोंके कष्टदायक विषम दाम्पत्य सम्बन्धोंके सन्दर्भ में नारी समस्या की बौध्दिक और मनोवैज्ञानिक मीमांसा इस नाटकमें देखने को मिलती है।

- -

१ अलग अलग रास्ते, उ.ना.अश्क, पृष्ठ ९१।

२ हिन्दी समस्या नाटक, डॉ.मान्धाता ओझा, पृष्ठ १५१।

आर्थिक आत्मनिर्भरता : नये आयाम :

अर्थ युगके इस सत्य को आज की शिक्षित मध्यवर्गीय नारी भलीभाँति समझती है। आर्थिक स्वावलम्बन की भावना ने नारी व्यक्तित्व को नये आयाम, नई दिशा दी है। पुरूष व्दारा नारी शोषण के मूलमें आज तक आर्थिक पराश्रयिता का भाव ही प्रमुख रहा है। लेकिन आज की नारी के सामने आर्थिक सुरक्षा के अनेकों रास्ते खुले पड़े है। शिक्षा के व्यापक प्रसारने उसकी चेतना को धार दी है। आज परम्परावादी लोग भी इस सत्यको स्वीकार करने लगे है।

अश्क के 'अलग अलग रास्ते' का परम्परावादी बृजनाथ विवाह को स्त्री की आर्थिक परतंत्रता स्वीकार नहीं करता। उसके मतानुसार -

> 'पढ़ना-लिखना लड़कीको आर्थिक रूपसे स्वतंत्र बनाने के लिए होता है, किन्तु ब्याह का केवल यही पक्ष तो नहीं, दूसरा भी है। ब्याह का केवल आर्थिक पक्ष होता है, राजे महाराजे अपनी लड़कियों के ब्याह न करते।'[१]

इस सभी विवेचन के बाद समग्रत: हम देखते है -' आधुनिक युग में आकर प्रत्येक वर्गमें - चाहे वह निम्नवर्ग हो, निम्न मध्यवर्ग हो, उच्च मध्य वर्ग हो अथवा उच्चवर्ग हो - हमारे सामाजिक सम्बन्ध ही नहीं, हमारी सूक्ष्म और कोमल भावनाएँ भी बदल गयी है। उन सबका

---

१ अलग अलग रास्ते, उ.ना.अश्क, पृष्ठ १२१

अर्थीकरण हो गया है। प्रेम, दया, सहानुभूति, सम्मान, देशभक्ति और प्रार्थना तकमें अर्थतन्त्र घुस गया है। धन तो बाद की चीज थी, पहले तन और मन दिया जाता था। लेकिन अब हम तन मन की जगह धन देते है - प्रेम करेंगे तो उपहार देंगे, दया करेंगे तो पैसा फेकेंगे, सहानुभूति जतानी होगी तो आर्थिक सहायता देंगे, सम्मान देना-पाना होगा तो पैसा खर्च करेंगे, देशभक्ति दिखाने के लिए हथियार लेकर लड़ने नहीं जायेंगे, अपनी जगह अपना काम सही ढंगसे नही करेंगे, रिश्वत या चोरबाजारी से कमाया हुआ धन डिफेंस में दे देंगे। [१]

यदि हम गंभीर होकर विचार करे तो आज अर्थ हमारी सामाजिक व्यवस्था की तन-मन आत्मा की इकाई बन चुका है।

-ooo-

---

१ नवनीत - अर्थतन्त्र (कहानी) - डॉ. रमेश उपाध्याय, मार्च ७२, पृष्ठ ७१।